॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः
(चौथा अध्याय)

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥

श्रीभगवान् बोले—

अहम्	=मैंने	**विवस्वते**	=सूर्यसे	**प्राह**	=कहा (और)
इमम्	=इस	**प्रोक्तवान्**	=कहा था। (फिर)	**मनुः**	=मनुने (अपने पुत्र)
अव्ययम्	=अविनाशी	**विवस्वान्**	=सूर्यने (अपने पुत्र)	**इक्ष्वाकवे**	=राजा इक्ष्वाकुसे
योगम्	=योग (कर्मयोग) को	**मनवे**	=(वैवस्वत) मनुसे	**अब्रवीत्**	=कहा।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥ २॥

परन्तप	=हे परन्तप!	**राजर्षयः**	= राजर्षियोंने	**सः**	=वह
एवम्	=इस तरह	**विदुः**	= जाना। (परन्तु)	**योगः**	=योग
परम्पराप्राप्तम्	=परम्परासे प्राप्त	**महता**	= बहुत	**इह**	=इस मनुष्यलोकमें
इमम्	=इस कर्मयोगको	**कालेन**	= समय बीत जानेके कारण	**नष्टः**	=लुप्तप्राय हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३॥

मे	=(तू) मेरा	**सः, एव**	=वही	**ते**	=तुझसे
भक्तः	=भक्त	**अयम्**	=यह	**प्रोक्तः**	=कहा है;
च	=और	**पुरातनः**	=पुरातन	**हि**	=क्योंकि
सखा	=(प्रिय) सखा	**योगः**	=योग	**एतत्**	=यह
असि	=है,	**अद्य**	=आज	**उत्तमम्**	=बड़ा उत्तम
इति	=इसलिये	**मया**	=मैंने	**रहस्यम्**	=रहस्य है।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥ ४॥

अर्जुन बोले—

भवतः	=आपका	**परम्**	=बहुत पुराना है; (अतः)	**एतत्**	=यह योग
जन्म	=जन्म (तो)			**प्रोक्तवान्**	=कहा था—
अपरम्	=अभीका है (और)	**त्वम्**	=आपने (ही)	**इति**	=यह बात (मैं)
विवस्वतः	=सूर्यका	**आदौ**	=सृष्टिके आरम्भमें (सूर्यसे)	**कथम्**	=कैसे
जन्म	=जन्म			**विजानीयाम्**	=समझूँ ?

~~~

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥ ५॥

श्रीभगवान् बोले—

परन्तप	=हे परन्तप	**बहूनि**	=बहुत-से	**अहम्**	=मैं
अर्जुन	=अर्जुन !	**जन्मानि**	=जन्म	**वेद**	=जानता हूँ, (पर)
मे	=मेरे	**व्यतीतानि**	=हो चुके हैं।	**त्वम्**	=तू
च	=और	**तानि**	=उन	**न**	=नहीं
तव	=तेरे	**सर्वाणि**	=सबको	**वेत्थ**	=जानता।

~~~

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

अजः	=(मैं) अजन्मा (और)	**भूतानाम्**	=सम्पूर्ण प्राणियोंका	**प्रकृतिम्**	=प्रकृतिको
		ईश्वरः	=ईश्वर	**अधिष्ठाय**	=अधीन करके
अव्ययात्मा	=अविनाशी-स्वरूप	**सन्**	=होते हुए	**आत्ममायया**	=अपनी योगमायासे
सन्	=होते हुए	**अपि**	=भी		
अपि	=भी (तथा)	**स्वाम्**	=अपनी	**सम्भवामि**	=प्रकट होता हूँ।

विशेष भाव—भगवान् प्रकृतिकी सहायतासे ही क्रिया (लीला) करते हैं। इसीलिये सीताजी कहती हैं कि सब कार्य मैंने किये हैं, भगवान् रामने कुछ नहीं किया (अध्यात्मरामायण, बाल० १। ३२—४३)। परन्तु भगवान् मनुष्यकी तरह प्रकृतिके अधीन नहीं होते—'**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय**'। कारण कि भगवान्के लिये प्रकृति 'पर' नहीं है, प्रत्युत उनसे अभिन्न है (गीता ७। ४-५)। भगवान्को प्रकृतिमें स्थित मनुष्योंके सामने आना है, इसलिये वे प्रकृतिको स्वीकार करके प्रकट होते हैं। तभी मनुष्य उनको देख सकते हैं।

~~~
~~~

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७॥

भारत	=हे भरतवंशी अर्जुन!	**अधर्मस्य**	=अधर्मकी	**अहम्**	=मैं
यदा, यदा	=जब-जब	**अभ्युत्थानम्**	=वृद्धि	**आत्मानम्**	=अपने-आपको
धर्मस्य	=धर्मकी	**भवति**	=होती है,	**सृजामि**	=(साकाररूपसे) प्रकट करता हूँ।
ग्लानिः	=हानि (और)	**तदा**	=तब-तब		
		हि	=ही		

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ८॥

साधूनाम्	=साधुओं (भक्तों) की	**विनाशाय**	= विनाश करनेके लिये		करनेके लिये (मैं)
परित्राणाय	=रक्षा करनेके लिये,	**च**	=और	**युगे, युगे**	=युग-युगमें
दुष्कृताम्	=पापकर्म करनेवालोंका	**धर्मसंस्थापनार्थाय**	=धर्मकी भलीभाँति स्थापना	**सम्भवामि**	=प्रकट हुआ करता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ ९॥

अर्जुन	=हे अर्जुन !		जन्म और कर्मको)	**देहम्**	=शरीरका
मे	=मेरे	**यः**	=जो मनुष्य	**त्यक्त्वा**	=त्याग करके
जन्म	=जन्म	**तत्त्वतः**	=तत्त्वसे	**पुनः, जन्म**	=पुनर्जन्मको
च	=और	**वेत्ति**	=जान लेता है अर्थात् दृढ़तापूर्वक मान लेता है,	**न, एति**	=प्राप्त नहीं होता, (प्रत्युत)
कर्म	=कर्म				
दिव्यम्	=दिव्य हैं।			**माम्**	=मुझे
एवम्	=इस प्रकार (मेरे	**सः**	=वह	**एति**	=प्राप्त होता है।

विशेष भाव—निष्कामभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म (सेवा) करनेपर अथवा भगवान्‌के लिये कर्म (पूजा) करनेपर वे कर्म दिव्य मुक्तिदायक हो जाते हैं। परन्तु कामनापूर्वक अपने लिये किये गये कर्म मलिन, बन्धनकारक हो जाते हैं।

कर्मोंमें कर्तृत्वका न होना ही दिव्यता है। अपने लिये कुछ न करनेसे कर्तृत्व नहीं रहता।

भगवान्‌की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया 'लीला' होती है। लीलामें भगवान् सामान्य मनुष्यों-जैसी क्रिया करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं (गीता ४। १३)। भगवान्‌की लीला दिव्य होती है। यह दिव्यता देवताओंकी दिव्यतासे भी विलक्षण होती है। देवताओंकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे होनेके कारण सापेक्ष और सीमित होती है, पर भगवान्‌की दिव्यता निरपेक्ष और असीम होती है। यद्यपि जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी क्रियाएँ भी दिव्य होती हैं, तथापि वे भी भगवल्लीलाके समान नहीं होतीं। भगवान्‌की साधारण लीला भी अत्यन्त अलौकिक होती है। जैसे, भगवान्‌की रासलीला लौकिक दीखती है, पर उसको पढ़ने-सुननेसे साधककी

काम-वृत्तिका नाश हो जाता है (श्रीमद्भा० १०। ३३। ४०)।

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—**'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य'** (श्रीमद्भा० २। ६। ४१)। तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु जीवने भोगासक्तिके कारण जगत्‌को भगवद्‌रूपसे स्वीकार न करके नाशवान् जगत्-रूपसे ही धारण कर रखा है—**'जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। इस धारणाको मिटानेके लिये साधकको दृढ़तासे ऐसा मानना चाहिये कि जो दीख रहा है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और जो हो रहा है, वह भगवान्‌की लीला है। ऐसा मानने (स्वीकार करने) पर जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहेगा और 'भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—इसका अनुभव हो जायगा। दूसरे शब्दोंमें, संसार लुप्त हो जायगा और केवल भगवान् रह जायँगे। कारण कि प्रत्येक वस्तु तथा व्यक्तिको भगवान्‌का स्वरूप और प्रत्येक क्रियाको भगवल्लीला माननेसे भोगासक्ति, राग-द्वेष नहीं रहेंगे। भोगासक्तिका नाश होनेपर जो क्रियाएँ पहले लौकिक दीखती थीं, वही क्रियाएँ अलौकिक भगवल्लीला-रूपसे दीखने लगेंगी और जहाँ पहले भोगासक्ति थी, वहाँ भगवत्प्रेम हो जायगा।

भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं, उसीके अनुरूप लीला करते हैं*। जब वे अर्चावतार अर्थात् मूर्तिका रूप धारण करते हैं, तब वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। अगर वे अचल नहीं रहेंगे तो वह अर्चावतार कैसे रहेगा? भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप आदि रूप भी धारण किये। उन्होंने जैसा रूप धारण किया, वैसी ही लीला की। जैसे, वराहावतारमें भगवान्‌ने सूअर बनकर लीला की और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण बनकर लीला की। इससे साधकको यह समझना चाहिये कि अभी भी जो हो रहा है, वह सब भगवान्‌की लीला ही हो रही है!

---

* भगवान् श्रीकृष्ण उत्तङ्क ऋषिसे कहते हैं—

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४। १३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥

(महाभारत, आश्व० ५४। १७—१९)

'भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है।'

'जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

'जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर मैं उन्हींके आचार-विचारका यथावत्-रूपसे पालन करता हूँ।'

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १०॥

वीतरागभयक्रोधाः	= राग, भय और क्रोधसे सर्वथा रहित,	**माम्**	= मेरे (ही)	**बहवः**	= बहुत-से (भक्त)
मन्मयाः	= मुझमें तल्लीन,	**उपाश्रिताः**	= आश्रित (तथा)	**मद्भावम्**	= मेरे स्वरूपको
		ज्ञानतपसा	= ज्ञानरूप तपसे	**आगताः**	= प्राप्त हो चुके हैं।
		पूताः	= पवित्र हुए		

~~~~

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥ ११॥

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	**अहम्**	= मैं	**मनुष्याः**	= सभी मनुष्य
ये	= जो भक्त	**तान्**	= उन्हें	**सर्वशः**	= सब प्रकारसे
यथा	= जिस प्रकार	**तथा, एव**	= उसी प्रकार	**मम**	= मेरे
माम्	= मेरी	**भजामि**	= आश्रय देता हूँ; (क्योंकि)	**वर्त्म**	= मार्गका
प्रपद्यन्ते	= शरण लेते हैं,			**अनुवर्तन्ते**	= अनुसरण करते हैं।

विशेष भाव—यद्यपि यह संसार साक्षात् परमात्माका स्वरूप है, तथापि जो इसको जिस रूपसे देखता है, भगवान् भी उसके लिये उसी रूपसे प्रकट हो जाते हैं। हम अपनेको शरीर मानकर अपने लिये वस्तुओंकी आवश्यकता मानते हैं और उनकी इच्छा करते हैं तो भगवान् भी उन वस्तुओंके रूपमें हमारे सामने आते हैं। हम असत्‌में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। जैसे बालक खिलौना चाहता है तो पिता रुपये खर्च करके भी उसको खिलौना लाकर देता है, ऐसा ही हम जो चाहते हैं, परम दयालु भगवान् (स्वयं सदा सत्स्वरूप रहते हुए भी) उसी रूपसे हमारे सामने आते हैं। अगर हम भोगोंको न चाहें तो भगवान्‌को भोगरूपसे क्यों आना पड़े? बनावटी रूप क्यों धारण करना पड़े?

भगवान्‌के स्वभावमें 'यथा-तथा' होते हुए भी जीवपर उनकी बड़ी भारी कृपा है; क्योंकि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! अभिमानके सिवाय जीवमें और क्या सामर्थ्य है? फिर भी जीवका भगवान्‌में आकर्षण होता है तो भगवान्‌का भी जीवमें आकर्षण होता है। जैसे, विदुरानीजी अपने-आपको भूल गयीं तो भगवान् भी अपने-आपको भूल गये और केलेके छिलके खाने लगे तथा उसीमें आनन्द लेने लगे!

भगवान्‌के स्वभावमें 'यथा-तथा' केवल क्रियामें है, भावमें नहीं। भगवान्‌का आस्तिक-से-आस्तिक व्यक्तिके प्रति जो स्नेह है, कृपा है, वैसा ही स्नेह, कृपा नास्तिक-से-नास्तिक व्यक्तिके प्रति भी है। इसलिये भगवान्‌के 'यथा-तथा' में स्वार्थभाव नहीं है, प्रत्युत यह तो भगवान्‌की महत्ता है कि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्! फिर भी वे जीवको अपना मित्र बनाते हैं, उसको अपने समान दर्जा देते हैं! भगवान् अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं रखते—यह उनकी महत्ता है।

~~~~

काङ्‌क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥ १२॥

कर्मणाम्	= कर्मोंकी	**यजन्ते**	= उपासना किया करते हैं;	**कर्मजा**	= कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली
सिद्धिम्	= सिद्धि (फल)	**हि**	= क्योंकि	**सिद्धिः**	= सिद्धि
काङ्‌क्षन्तः	= चाहनेवाले (मनुष्य)	**इह**	= इस	**क्षिप्रम्**	= जल्दी
देवताः	= देवताओंकी	**मानुषे, लोके**	= मनुष्यलोकमें	**भवति**	= मिल जाती है।

~~~~
~~~~

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ १३॥
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

मया	= मेरे द्वारा	**माम्**	= मुझ	**कर्माणि**	= कर्म
गुणकर्मविभागशः	= गुणों और कर्मोंके विभाग-पूर्वक	**अव्ययम्**	= अविनाशी परमेश्वरको (तू)	**न, लिम्पन्ति**	= लिप्त नहीं करते।
				इति	= इस प्रकार
		अकर्तारम्	= अकर्ता	**यः**	= जो
चातुर्वर्ण्यम्	= चारों वर्णोंकी	**विद्धि**	= जान! (कारण कि)	**माम्**	= मुझे
सृष्टम्	= रचना की गयी है।	**कर्मफले**	= कर्मोंके फलमें	**अभिजानाति**	= तत्त्वसे जान लेता है,
तस्य	= उस (सृष्टि-रचना आदि) का	**मे**	= मेरी	**सः**	= वह (भी)
		स्पृहा	= स्पृहा	**कर्मभिः**	= कर्मोंसे
कर्तारम्	= कर्ता होनेपर	**न**	= नहीं है, (इसलिये)	**न**	= नहीं
अपि	= भी	**माम्**	= मुझे	**बध्यते**	= बँधता।

विशेष भाव—जैसे सृष्टि-रचना आदि करनेपर भी भगवान्‌का अकर्तापन सुरक्षित (ज्यों-का-त्यों) रहता है, ऐसे ही जीवका भी स्वरूपसे अकर्तापन स्वतः सुरक्षित रहता है—‘**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**’ (गीता १३। ३१)। परन्तु वह मूढ़तापूर्वक अपनेमें कर्तापन स्वीकार कर लेता है—‘**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**’ (गीता ३। २७)।

कर्म, क्रिया और लीला—तीनों एक दीखते हुए भी वास्तवमें सर्वथा भिन्न हैं। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमानपूर्वक की जाय तथा अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेवाली हो, वह क्रिया ‘कर्म’ कहलाती है। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक न की जाय तथा जो फल देनेवाली भी न हो, वह ‘क्रिया’ होती है; जैसे—श्वासोंका आना-जाना, आँखका खुलना और बन्द होना, नाड़ियोंका चलना, हृदयका धड़कना आदि। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छासे रहित तो होती ही है, साथ-साथ दिव्य तथा दुनियामात्रका हित करनेवाली भी होती है, वह ‘लीला’ होती है। सांसारिक लोगोंके द्वारा ‘कर्म’ होता है, मुक्त पुरुषोंके द्वारा ‘क्रिया’ होती है* और भगवान्‌के द्वारा ‘लीला’ होती है—‘**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**’ (ब्रह्मसूत्र २। १। ३३) अर्थात् जैसे संसार न होते हुए भी दीखता है, ऐसे ही भगवान्‌का सृष्टि-रचना आदि कार्य केवल लीलामात्र है। तात्पर्य है कि भगवान् कर्ता न होते हुए भी लीलासे कर्ता दीखते हैं।

‘**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**’ पदोंसे सिद्ध होता है कि गीता जन्म (उत्पत्ति) से ही जाति मानती है। जो मनुष्य जिस वर्णमें जिस जातिके माता-पितासे पैदा हुआ है, उसीसे उसकी जाति मानी जाती है। ‘जाति’ शब्द ही ‘**जनी प्रादुर्भावे**’ धातुसे बनता है, जो जन्मसे जातिको सिद्ध करता है। कर्मसे तो ‘कृति’ शब्द होता है, जो ‘**डुकृञ् करणे**’ धातुसे बनता है। हाँ, जातिकी पूर्ण रक्षा उसके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेसे ही होती है।

~~~

* इसको गीताने ‘चेष्टा’ भी कहा है—‘**सदृशं चेष्टते**’ (३।३३)।
~~~

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ १५॥

पूर्वैः	=पूर्वकालके	**कर्म**	=कर्म	**पूर्वतरम्**	=सदासे
मुमुक्षुभिः	=मुमुक्षुओंने	**कृतम्**	=किये हैं,	**कृतम्**	=किये जानेवाले
अपि	=भी	**तस्मात्**	=इसलिये	**कर्म**	=कर्मोंको
एवम्	=इस प्रकार	**त्वम्**	=तू (भी)	**एव**	=ही (उन्हींकी तरह)
ज्ञात्वा	=जानकर	**पूर्वैः**	=पूर्वजोंके द्वारा	**कुरु**	=कर।

विशेष भाव—तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने बताया कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छासे रहित होकर सृष्टि-रचना आदि कर्म करनेके कारण वे कर्म मुझे नहीं बाँधते। यहाँ भगवान् कहते हैं कि मुमुक्षुओंने भी इसी तरह कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छाका त्याग करके कर्म किये हैं। कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा होनेपर ही कर्म बन्धनकारक होते हैं। इसलिये तू भी उसी प्रकारसे कर्म कर।

ज्ञानयोगमें पहले कर्तृत्वाभिमानका त्याग किया जाता है, फिर फलेच्छाका त्याग स्वतः होता है। कर्मयोगमें पहले फलेच्छाका त्याग किया जाता है, फिर कर्तृत्वाभिमानका त्याग सुगमतासे हो जाता है।

~~~

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६॥

कर्म	=कर्म	**अपि**	=भी		कहूँगा,
किम्	=क्या है (और)	**मोहिताः**	=मोहित हो जाते हैं।	**यत्**	=जिसको
अकर्म	=अकर्म		(अतः)	**ज्ञात्वा**	=जानकर (तू)
किम्	=क्या है—	**तत्**	=वह	**अशुभात्**	=अशुभ (संसार-
इति	=इस प्रकार	**कर्म**	=कर्म-तत्त्व (मैं)		बन्धन)से
अत्र	=इस विषयमें	**ते**	=तुझे	**मोक्ष्यसे**	=मुक्त हो
कवयः	=विद्वान्	**प्रवक्ष्यामि**	=भलीभाँति		जायगा।

~~~

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

कर्मणः	=कर्मोंका (तत्त्व)	**बोद्धव्यम्**	=जानना चाहिये	**कर्मणः**	=कर्मोंकी
अपि	=भी	**च**	=तथा	**गतिः**	=गति
बोद्धव्यम्	=जानना चाहिये	**विकर्मणः**	=विकर्मका (तत्त्व भी)	**गहना**	=गहन है अर्थात्
च	=और	**बोद्धव्यम्**	=जानना चाहिये;		समझनेमें बड़ी
अकर्मणः	=अकर्मका (तत्त्व भी)	**हि**	=क्योंकि		कठिन है।

विशेष भाव—हमारे लिये और दूसरोंके लिये, अभी और परिणाममें किस कर्मका क्या फल होता है, यह समझना बड़ा कठिन है। किसी कर्मको करनेमें मनुष्य अपना हित समझता है, पर हो जाता है अहित! वह लाभके लिये करता है, पर हो जाता है नुकसान! वह सुखके लिये करता है, पर मिलता है दुःख! कारण कि कर्तृत्वाभिमान और फलेच्छा (सुखासक्ति) रहनेके कारण मनुष्य कर्मोंकी गतिको नहीं समझ सकता।

~~~
~~~

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥

शब्द	अर्थ
यः	=जो मनुष्य
कर्मणि	=कर्ममें
अकर्म	=अकर्म
पश्येत्	=देखता है
च	=और
यः	=जो
अकर्मणि	=अकर्ममें
कर्म	=कर्म (देखता है),
सः	=वह
मनुष्येषु	=मनुष्योंमें
बुद्धिमान्	=बुद्धिमान् है,
सः	=वह
युक्तः	=योगी है (और)
कृत्स्नकर्मकृत्	=सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला (कृतकृत्य) है।

विशेष भाव—एक विभाग कर्मका है और एक विभाग अकर्मका है। इन दोनोंमें अकर्म ही सार तत्त्व है। इसलिये जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है अर्थात् कर्म करते हुए निर्लिप्त रहता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है अर्थात् निर्लिप्त रहते हुए कर्म करता है, उसके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। जैसे किसी कर्मके आरम्भमें तो गणेशजीका पूजन करते हैं, पर कर्म करते समय हरदम उनका पूजन नहीं करते, ऐसे ही कोई यह न समझ ले कि कर्मके आरम्भमें एक बार निर्लिप्त हो गये तो अब उस निर्लिप्तताको हरदम नहीं रखना है, इसलिये भगवान्ने यहाँ उपर्युक्त दो बातें कही हैं। तात्पर्य है कि अपनेमें कभी भी लिप्तता (फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान) नहीं आनी चाहिये अर्थात् हरदम निर्लिप्त रहना चाहिये।

तीसरे अध्यायके आठवें श्लोकमें भगवान्ने कहा कि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है—'**कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः**' और यहाँ बताते हैं कि कर्म करनेकी अपेक्षा भी अकर्म (अकर्तृत्व) को देखना श्रेष्ठ है और ऐसा देखनेवाले मनुष्यके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यमें फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान नहीं रहने चाहिये; क्योंकि इन दोनोंसे ही मनुष्य बँधता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥

शब्द	अर्थ
यस्य	=जिसके
सर्वे	=सम्पूर्ण
समारम्भाः	=कर्मोंके आरम्भ
कामसङ्कल्पवर्जिताः	=संकल्प और कामनासे रहित हैं (तथा)
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्	=जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्निसे जल गये हैं,
तम्	=उसको
बुधाः	=ज्ञानिजन (भी)
पण्डितम्	=पण्डित (बुद्धिमान्)
आहुः	=कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥ २०॥

शब्द	अर्थ
कर्मफलासङ्गम्	=(जो) कर्म और फलकी आसक्तिका
त्यक्त्वा	=त्याग करके
निराश्रयः	=आश्रयसे रहित (और)
नित्यतृप्तः	=सदा तृप्त है,
सः	=वह
कर्मणि	=कर्मोंमें
अभिप्रवृत्तः	=अच्छी तरह लगा हुआ
अपि	=भी (वास्तवमें)
किञ्चित्	=कुछ
एव	=भी
न	=नहीं
करोति	=करता।

विशेष भाव—जबतक मनुष्यमें कर्तृत्व है, तबतक वह करता है तो करता है, नहीं करता है तो करता है।

परन्तु कर्तृत्व मिटनेपर वह कभी कुछ नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥

यतचित्तात्मा	=जिसका शरीर और अन्त:करण अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ है,
त्यक्तसर्वपरिग्रहः	= जिसने सब प्रकारके संग्रहका परित्याग कर दिया है, (ऐसा)
निराशीः	=इच्छारहित (कर्मयोगी)
केवलम्	=केवल
शारीरम्	=शरीर-सम्बन्धी
कर्म	=कर्म
कुर्वन्	=करता हुआ (भी)
किल्बिषम्	=पापको
न, आप्नोति	=प्राप्त नहीं होता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ २२॥

जो कर्मयोगी फलकी इच्छाके बिना—

यदृच्छालाभसन्तुष्टः	=अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसमें सन्तुष्ट रहता है (और)
विमत्सरः	=(जो) ईर्ष्यासे रहित,
द्वन्द्वातीतः	=द्वन्द्वोंसे रहित (तथा)
सिद्धौ	=सिद्धि
च	=और
असिद्धौ	=असिद्धिमें
समः	=सम है, (वह)
कृत्वा	=(कर्म) करते हुए
अपि	=भी (उससे)
न	=नहीं
निबध्यते	=बँधता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥ २३॥

गतसङ्गस्य	=जिसकी आसक्ति सर्वथा मिट गयी है,
मुक्तस्य	=जो मुक्त हो गया है,
ज्ञानावस्थितचेतसः	=जिसकी बुद्धि स्वरूपके ज्ञानमें स्थित है, (ऐसे केवल)
यज्ञाय	=यज्ञके लिये
आचरतः	=कर्म करनेवाले मनुष्यके
समग्रम्	=सम्पूर्ण
कर्म	=कर्म
प्रविलीयते	=नष्ट हो जाते हैं।

विशेष भाव—एक 'क्रिया' होती है, एक 'कर्म' होता है और एक 'कर्मयोग' होता है। शरीर बालकसे जवान तथा जवानसे बूढ़ा होता है—यह 'क्रिया' है। क्रियासे न पाप होता है, न पुण्य; न बन्धन होता है, न मुक्ति। जैसे, गङ्गाजीका बहना क्रिया है; अत: कोई डूबकर मर जाय अथवा खेती आदि कोई परोपकार हो जाय तो गङ्गाजीको पाप-पुण्य नहीं लगता। जब मनुष्य क्रियासे सम्बन्ध जोड़कर कर्ता बन जाता है अर्थात् अपने लिये क्रिया करता है, तब वह क्रिया फलजनक 'कर्म' बन जाती है। कर्मसे बन्धन होता है—'**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३। ९)। कर्मबन्धनसे छूटनेके लिये जब मनुष्य अपने लिये कुछ नहीं करता, प्रत्युत नि:स्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये ही कर्म करता है, तब वह 'कर्मयोग' हो जाता है। कर्मयोगसे बन्धन मिटता है—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**'। बन्धन मिटनेसे योग हो जाता है अर्थात् परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।

यह तेईसवाँ श्लोक कर्मयोगका मुख्य श्लोक है। जैसे भगवान्ने **'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते'** (४। ३७) पदोंसे ज्ञानाग्निके द्वारा ज्ञानयोगीके सम्पूर्ण पाप भस्म होनेकी बात कही है और **'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'** (१८। ६६) पदोंसे भक्तके सम्पूर्ण पाप नष्ट होनेकी बात कही है, ऐसे ही इस श्लोकमें **'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते'** पदोंसे कर्मयोगीके समग्र कर्म (पाप) नष्ट होनेकी बात कही है।

~~~

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ २४॥

जिस यज्ञमें—

अर्पणम्	=अर्पण अर्थात् जिससे अर्पण किया जाय, वे स्रुक्, स्रुवा आदि पात्र (भी)	**ब्रह्म**	=ब्रह्म है (और)		मनुष्यकी ब्रह्ममें ही कर्म-समाधि हो गयी है,
ब्रह्म	=ब्रह्म है,	**ब्रह्मणा**	=ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा	**तेन**	=उसके द्वारा
हविः	=हव्य पदार्थ (तिल, जौ, घी आदि) (भी)	**ब्रह्माग्नौ**	=ब्रह्मरूप अग्निमें	**गन्तव्यम्**	=प्राप्त करनेयोग्य (फल भी)
		हुतम्	=आहुति देनारूप क्रिया (भी ब्रह्म है),	**ब्रह्म**	=ब्रह्म
		ब्रह्मकर्मसमाधिना	=(ऐसे यज्ञको करनेवाले) जिस	**एव**	=ही है।

~~~

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥ २५॥

अपरे	=अन्य	**पर्युपासते**	=अनुष्ठान करते हैं (और)		यज्ञके द्वारा
योगिनः	=योगीलोग	**अपरे**	=दूसरे (योगीलोग)	**एव**	=ही
दैवम्	=दैव (भगवदर्पणरूप)	**ब्रह्माग्नौ**	=ब्रह्मरूप अग्निमें	**यज्ञम्**	=(जीवात्मारूप) यज्ञका
यज्ञम्	=यज्ञका	**यज्ञेन**	=(विचाररूप)	**उपजुह्वति**	=हवन करते हैं।
एव	=ही				

विशेष भाव—'ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति' का यह अर्थ भी ले सकते हैं—दूसरे योगीलोग संसाररूप ब्रह्मकी सेवाके लिये केवल लोकसंग्रहरूप यज्ञके लिये कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ करते हैं अर्थात् यज्ञार्थ कर्म करते हैं (गीता ३। ९, ४। २३)।

~~~

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ २६॥

अन्ये	=अन्य (योगीलोग)	**जुह्वति**	=हवन किया करते हैं (और)	**विषयान्**	=विषयोंका
श्रोत्रादीनि	=श्रोत्रादि	**अन्ये**	=दूसरे (योगीलोग)	**इन्द्रियाग्निषु**	=इन्द्रियरूप अग्नियोंमें
इन्द्रियाणि	=समस्त इन्द्रियोंका	**शब्दादीन्**	=शब्दादि	**जुह्वति**	=हवन किया करते हैं।
संयमाग्निषु	=संयमरूप अग्नियोंमें				

~~~

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ २७॥

अपरे = अन्य (योगीलोग) **सर्वाणि** = सम्पूर्ण **इन्द्रियकर्माणि** = इन्द्रियोंकी क्रियाओंको **च** = और **प्राणकर्माणि** = प्राणोंकी क्रियाओंको **ज्ञानदीपिते** = ज्ञानसे प्रकाशित **आत्मसंयमयोगाग्नौ** = आत्मसंयम-योग (समाधियोग)-रूप अग्निमें **जुह्वति** = हवन किया करते हैं।

~~~

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥ २८॥

अपरे = दूसरे (कितने ही) **संशितव्रताः** = तीक्ष्ण व्रत करनेवाले **यतयः** = प्रयत्नशील साधक **द्रव्ययज्ञाः** = द्रव्यमय यज्ञ करनेवाले हैं **तपोयज्ञाः** = (और कितने ही) तपोयज्ञ करनेवाले हैं **तथा** = और (दूसरे कितने ही) **योगयज्ञाः** = योगयज्ञ करनेवाले हैं **च** = तथा (कितने ही) **स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः** = स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं।

~~~

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥ २९॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥ ३०॥

अपरे = दूसरे (कितने ही) **प्राणायामपरायणाः** = प्राणायामके परायण हुए (योगीलोग) **अपाने** = अपानमें **प्राणम्** = प्राणका (पूरक करके) **प्राणापानगती** = प्राण और अपानकी गति **रुद्ध्वा** = रोककर (कुम्भक करके) **प्राणे** = (फिर) प्राणमें **अपानम्** = अपानका **जुह्वति** = हवन (रेचक) करते हैं; **तथा** = तथा **अपरे** = अन्य (कितने ही) **नियताहाराः** = नियमित आहार करनेवाले **प्राणान्** = प्राणोंका **प्राणेषु** = प्राणोंमें **जुह्वति** = हवन किया करते हैं। **एते** = ये **सर्वे, अपि** = सभी (साधक) **यज्ञक्षपितकल्मषाः** = यज्ञों द्वारा पापोंका नाश करनेवाले (और) **यज्ञविदः** = यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

विशेष भाव—नि:स्वार्थभावसे केवल दूसरोंके हितके लिये कर्तव्यकर्म करनेका नाम 'यज्ञ' है। यज्ञसे सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् बाँधनेवाले नहीं होते। चौबीसवेंसे तीसवें श्लोकतक कुल बारह प्रकारके यज्ञ बताये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) **ब्रह्मयज्ञ**—प्रत्येक कर्ममें कर्ता, करण, क्रिया, पदार्थ आदि सबको ब्रह्मरूपसे अनुभव करना।

(२) **भगवदर्पणरूप यज्ञ**—सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंको केवल भगवान्‌का और भगवान्‌के लिये ही मानना।

(३) **अभिन्नतारूप यज्ञ—**असत्‌से सर्वथा विमुख होकर परमात्मामें लीन हो जाना अर्थात् परमात्मासे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता न रखना।

[**कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ—**केवल दूसरोंके हितके लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म करना।]

(४) **संयमरूप यज्ञ—**एकान्तकालमें अपनी इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न होने देना।

(५) **विषय-हवनरूप यज्ञ—**व्यवहारकालमें इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग होनेपर भी उनमें राग-द्वेष पैदा न होने देना (गीता २। ६४-६५)।

(६) **समाधिरूप यज्ञ—**मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर ज्ञानसे प्रकाशित समाधिमें स्थित हो जाना।

(७) **द्रव्ययज्ञ—**सम्पूर्ण पदार्थोंको निःस्वार्थभावसे दूसरोंकी सेवामें लगा देना।

(८) **तपोयज्ञ—**अपने कर्तव्यके पालनमें आनेवाली कठिनाइयोंको प्रसन्नतापूर्वक सह लेना।

(९) **योगयज्ञ—**कार्यकी सिद्धि-असिद्धिमें तथा फलकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें सम रहना।

(१०) **स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ—**दूसरोंके हितके लिये सत्-शास्त्रोंका पठन-पाठन, नाम-जप आदि करना।

(११) **प्राणायामरूप यज्ञ—**पूरक, कुम्भक और रेचकपूर्वक प्राणायाम करना।

(१२) **स्तम्भवृत्ति (चतुर्थ) प्राणायामरूप यज्ञ—**नियमित आहार करते हुए प्राण और अपानको अपने-अपने स्थानोंपर रोक देना।

—इन सबका तात्पर्य है कि हमारी मात्र क्रियाएँ यज्ञरूप ही होनी चाहिये, तभी जीवन सफल होगा। तात्पर्य है कि हमें अपने लिये कुछ नहीं करना है। क्रिया और पदार्थके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो क्रिया और पदार्थसे रहित हैं।

~~~

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥ ३१॥

कुरुसत्तम	= हे कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!	**ब्रह्म**	= परब्रह्म परमात्माको	**लोकः**	= मनुष्यलोक (भी)
यज्ञशिष्टामृतभुजः	= यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले	**यान्ति**	= प्राप्त होते हैं।	**न**	= (सुखदायक) नहीं
सनातनम्	= सनातन	**अयज्ञस्य**	= यज्ञ न करनेवाले मनुष्यके लिये	**अस्ति**	= है,
		अयम्	= यह	**अन्यः**	= (फिर) परलोक
				कुतः	= कैसे (सुखदायक होगा) ?

~~~

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥ ३२॥

एवम्	= इस प्रकार (और भी)	**वितताः**	= विस्तारसे कहे गये हैं।	**एवम्**	= इस प्रकार
बहुविधाः	= बहुत तरहके	**तान्**	= उन	**ज्ञात्वा**	= जानकर (यज्ञ करनेसे)
यज्ञाः	= यज्ञ	**सर्वान्**	= सब यज्ञोंको (तू)	**विमोक्ष्यसे**	= (तू कर्मबन्धनसे) मुक्त हो जायगा।
ब्रह्मणः	= वेदकी	**कर्मजान्**	= कर्मजन्य		
मुखे	= वाणीमें	**विद्धि**	= जान।		

~~~
~~~

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ ३३॥

- **परन्तप, पार्थ** = हे परन्तप अर्जुन!
- **द्रव्यमयात्** = द्रव्यमय
- **यज्ञात्** = यज्ञसे
- **ज्ञानयज्ञः** = ज्ञानयज्ञ
- **श्रेयान्** = श्रेष्ठ है।
- **सर्वम्** = सम्पूर्ण
- **कर्म** = कर्म (और)
- **अखिलम्** = पदार्थ
- **ज्ञाने** = ज्ञान (तत्त्वज्ञान) में
- **परिसमाप्यते** = समाप्त (लीन) हो जाते हैं।

विशेष भाव—द्रव्यमय यज्ञमें क्रिया तथा पदार्थकी मुख्यता है; अतः वह करणसापेक्ष है। ज्ञानयज्ञमें विवेक-विचारकी मुख्यता है; अतः वह करणनिरपेक्ष है। इसलिये द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञानयज्ञमें सम्पूर्ण क्रियाओं और पदार्थोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता; क्योंकि एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य सत्ता ही नहीं रहती।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४॥

- **तत्** = उस (तत्त्वज्ञान) को
- **विद्धि** = (तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषोंके पास जाकर) समझ
- **प्रणिपातेन** = (उनको) साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेसे,
- **सेवया** = (उनकी) सेवा करनेसे (और)
- **परिप्रश्नेन** = सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे
- **ते** = वे
- **तत्त्वदर्शिनः** = तत्त्वदर्शी (अनुभवी)
- **ज्ञानिनः** = ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष
- **ज्ञानम्** = (तुझे उस) तत्त्वज्ञानका
- **उपदेक्ष्यन्ति** = उपदेश देंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥ ३५॥

- **यत्** = जिस (तत्त्वज्ञान) का
- **ज्ञात्वा** = अनुभव करनेके बाद (तू)
- **पुनः** = फिर
- **एवम्** = इस प्रकार
- **मोहम्** = मोहको
- **न** = नहीं
- **यास्यसि** = प्राप्त होगा (और)
- **पाण्डव** = हे अर्जुन!
- **येन** = जिस (तत्त्व-ज्ञान) से
- **भूतानि** = (तू) सम्पूर्ण प्राणियोंको
- **अशेषेण** = निःशेषभावसे (पहले)
- **आत्मनि** = अपनेमें (और)
- **अथो** = उसके बाद
- **मयि** = मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें
- **द्रक्ष्यसि** = देखेगा।

विशेष भाव—तत्त्वज्ञान अथवा अज्ञानका नाश एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञानकी आवृत्ति नहीं होती। वह एक बार अनुभवमें आ गया तो सदाके लिये आ ही गया! कारण कि जब अज्ञानकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, तो फिर पुनः अज्ञान कैसे होगा? अतः नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और नित्यप्राप्त तत्त्वकी ही प्राप्ति होती है।

स्वयं सत्तामात्र तथा बोधस्वरूप है। बोधका अनादर करनेसे हमने असत्‌को स्वीकार किया और असत्‌को स्वीकार करनेसे अविवेक हुआ। तात्पर्य है कि बोधसे विमुख होकर हमने असत्‌को सत्ता दी और असत्‌को सत्ता देनेसे विवेकका अनादर हुआ। वास्तवमें बोधका अनादर किया नहीं है, प्रत्युत अनादिकालसे अनादर है। अगर

ऐसा मानें कि हमने बोधका अनादर किया तो इससे सिद्ध होगा कि पहले बोधका आदर था। अतः अब आदर करेंगे तो पुनः अनादर हो जायगा! परन्तु बोध एक ही बार होता है और सदाके लिये होता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता; क्योंकि वास्तवमें मोह है ही नहीं। मिटता वही है, जो नहीं होता और मिलता वही है, जो होता है।

जगत् जीवके अन्तर्गत है और जीव परमात्माके अन्तर्गत है, इसलिये साधक पहले जगत्को अपनेमें देखता है—'**द्रक्ष्यस्यात्मनि**', फिर अपनेको परमात्मामें देखता है—'**अथो मयि**'। '**द्रक्ष्यस्यात्मनि**' में आत्मज्ञान (ज्ञान) है और '**अथो मयि**' में परमात्मज्ञान (विज्ञान) है। आत्मज्ञानमें निजानन्द है और परमात्मज्ञानमें परमानन्द है। लौकिक निष्ठा (कर्मयोग तथा ज्ञानयोग) से आत्मज्ञानका अनुभव होता है और अलौकिक निष्ठा (भक्तियोग) से परमात्मज्ञानका अनुभव होता है।

सब कुछ भगवान् ही हैं—इस प्रकार समग्रका ज्ञान 'परमात्मज्ञान' है। आत्मज्ञानसे मुक्ति तो हो जाती है, पर सूक्ष्म अहम्की गन्ध रह जाती है, जिससे दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें मतभेद रहता है। अगर सूक्ष्म अहम्की गन्ध न हो तो फिर मतभेद कहाँसे आया? परन्तु परमात्मज्ञानसे सूक्ष्म अहम्की गन्ध भी नहीं रहती और उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद समाप्त हो जाते हैं। तात्पर्य हुआ कि जबतक '**आत्मनि**' है, तबतक दार्शनिक मतभेद हैं। जब '**वासुदेवः सर्वम्**' का अनुभव होनेपर सब मतभेद मिट जाते हैं, तब '**अथो मयि**' हो जाता है। '**अथो मयि**' में एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई सत्ता नहीं रहती।

~~~

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ ३६॥

चेत्	= अगर (तू)	**पापकृत्तमः**	= अधिक पापी	**सर्वम्**	= सम्पूर्ण
सर्वेभ्यः	= सब	**असि**	= है, (तो भी तू)	**वृजिनम्**	= पाप-समुद्रसे
पापेभ्यः	= पापियोंसे	**ज्ञानप्लवेन**	= ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा	**सन्तरिष्यसि**	= अच्छी तरह तर जायगा।
अपि	= भी	**एव**	= निःसन्देह		

विशेष भाव—यहाँ भगवान्ने '**पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः**' पदोंसे पापीकी आखिरी हद बता दी है! यद्यपि '**पापेभ्यः**' पद बहुवचन होनेसे सम्पूर्ण पापियोंका वाचक है, फिर भी भगवान्ने इसके साथ '**सर्वेभ्यः**' पद दिया। '**सर्वेभ्यः**' पद भी सम्पूर्णका वाचक है। ये दो पद देनेके बाद भी भगवान्ने '**पापकृत्तमः**' पद और दिया है, जो अतिशयताका बोधक है। पहले 'पापकृत्' होता है, फिर 'पापकृत्तर' होता है और फिर 'पापकृत्तम' होता है। तात्पर्य निकला कि सम्पूर्ण संसारमें जितने भी पापी हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण पापियोंसे भी जो अत्यधिक पापी है, उसको भी ज्ञान प्राप्त हो सकता है! कारण कि पाप कितने ही क्यों न हों, हैं वे असत् ही, जबकि ज्ञान सत् है। सत्के आगे असत् कैसे टिक सकता है! पाप अपवित्र है, जबकि ज्ञान परमपवित्र है (गीता ४। ३८)। अपवित्र वस्तु पवित्र वस्तुको कैसे अटका सकती है! अतः पापोंमें ज्ञानको अटकानेकी ताकत नहीं है। ज्ञानप्राप्तिमें खास बाधा है—नाशवान् सुखकी आसक्ति (गीता ३। ३७—४१)। भोगासक्तिके कारण ही मनुष्यकी पारमार्थिक विषयमें रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे ही ज्ञानकी प्राप्ति बड़ी कठिन प्रतीत होती है।

~~~

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥ ३७॥

अर्जुन	= हे अर्जुन!
यथा	= जैसे
समिद्धः	= प्रज्वलित
अग्निः	= अग्नि
एधांसि	= ईंधनोंको
भस्मसात्	= सर्वथा भस्म
कुरुते	= कर देती है,
तथा	= ऐसे ही
ज्ञानाग्निः	= ज्ञानरूपी अग्नि
सर्वकर्माणि	= सम्पूर्ण कर्मोंको
भस्मसात्	= सर्वथा भस्म
कुरुते	= कर देती है।

~~~

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥ ३८॥

इह	= इस मनुष्यलोकमें
ज्ञानेन	= ज्ञानके
सदृशम्	= समान
पवित्रम्	= पवित्र करनेवाला
हि	= निःसन्देह (दूसरा कोई साधन)
न	= नहीं
विद्यते	= है।
योगसंसिद्धः	= जिसका योग भलीभाँति सिद्ध हो गया है, (वह कर्मयोगी)
तत्	= उस तत्त्वज्ञानको
कालेन	= अवश्य ही
स्वयम्	= स्वयं
आत्मनि	= अपने-आपमें
विन्दति	= पा लेता है।

विशेष भाव—'पवित्रमिह'— अपवित्रता संसारके सम्बन्धसे आती है। तत्त्वज्ञान होनेपर जब संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है, तब अपवित्रता रहनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसलिये ज्ञानमें किंचिन्मात्र भी अपवित्रता, जड़ता, विकार नहीं है।

'**इह**' पद 'लोक' का वाचक है। तात्पर्य है कि तत्त्वज्ञान लौकिक है, जबकि परमात्मज्ञान अलौकिक है।

~~~

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ ३९॥

संयतेन्द्रियः	= (जो) जितेन्द्रिय (तथा)
तत्परः	= साधन-परायण है, (ऐसा)
श्रद्धावान्	= श्रद्धावान् मनुष्य
ज्ञानम्	= ज्ञानको
लभते	= प्राप्त होता है (और)
ज्ञानम्	= ज्ञानको
लब्ध्वा	= प्राप्त होकर (वह)
अचिरेण	= तत्काल
पराम्	= परम
शान्तिम्	= शान्तिको
अधिगच्छति	= प्राप्त हो जाता है।

विशेष भाव—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'—श्रद्धा-विश्वास और विवेककी आवश्यकता सभी साधकोंके लिये हैं। हाँ, कर्मयोग तथा ज्ञानयोगमें विवेककी मुख्यता है और भक्तियोगमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है। आरम्भमें 'तत्त्वज्ञान है'—ऐसी श्रद्धा होगी, तभी साधक उसकी प्राप्तिके लिये साधन करेगा।

~~~
~~~

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४०॥

अज्ञः	=विवेकहीन	**संशयात्मनः**	=संशयात्मा मनुष्यके लिये	**न**	=न
च	=और	**न**	=न तो	**परः**	=परलोक (हितकारक) है
अश्रद्दधानः	=श्रद्धारहित	**अयम्**	=यह	**च**	=और
संशयात्मा	=संशयात्मा मनुष्यका	**लोकः**	=लोक (हितकारक)	**न**	=न
विनश्यति	=पतन हो जाता है। (ऐसे)	**अस्ति**	=है,	**सुखम्**	=सुख (ही) है।

विशेष भाव—ज्ञान हो तो संशय मिट जाता है—**'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्'** (गीता ४। ४१) और श्रद्धा हो तो भी संशय मिट जाता है—**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'** (गीता ४। ४०)। परन्तु ज्ञान और श्रद्धा—ये दोनों ही न हों तो संशय नहीं मिट सकता। इसलिये जिस संशयात्मा मनुष्यमें न तो ज्ञान (विवेक) है और न श्रद्धा ही है अर्थात् जो न तो खुद जानता है और न दूसरेकी बात मानता है, उसका पतन हो जाता है।

~~~

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥ ४१॥

धनञ्जय	=हे धनंजय!		हो गया है (और)	**आत्मवन्तम्**	=स्वरूप-परायण मनुष्यको
योगसन्न्यस्तकर्माणम्	=योग (समता) के द्वारा जिसका सम्पूर्ण कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद	**ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्**	=विवेकज्ञानके द्वारा जिसके सम्पूर्ण संशयोंका नाश हो गया है, (ऐसे)	**कर्माणि**	=कर्म
				न	=नहीं
				निबध्नन्ति	=बाँधते।

~~~

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

तस्मात्	=इसलिये	**अज्ञानसम्भूतम्**	=अज्ञानसे उत्पन्न	**छित्त्वा**	=छेदन करके
भारत	=हे भरतवंशी अर्जुन!	**आत्मनः**	=अपने	**योगम्**	=योग (समता) में
		संशयम्	=संशयका	**आतिष्ठ**	=स्थित हो जा (और)
हृत्स्थम्	=हृदयमें स्थित	**ज्ञानासिना**	=ज्ञानरूप तलवारसे	**उत्तिष्ठ**	=(युद्धके लिये) खड़ा हो जा।
एनम्	=इस				

~~~

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

~~~